

शिक्षा और लोकतंत्र

□ सुरेश पण्डित

अमरीकी चिंतक जॉन डिवी का शिक्षा-दर्शन मे महत्वपूर्ण योगदान है । सामाजिक परिप्रेक्ष्य में स्कूल की भूमिका और शिक्षण प्रक्रिया को जॉन डिवी ने नये सिरे से परिभाषित किया । इसके पीछे एक वृहद ध्येय भी था- शिक्षा का जनतांत्रिकरण । जॉन डिवी की पुस्तकें सामान्यतः हिन्दी में सुलभ नहीं हैं, ऐसे में उनकी एक महत्वपूर्ण पुस्तक का हिन्दी में आना शुभ समाचार है । यह समीक्षा इस पुस्तक के बारे में संक्षिप्त विवरण है ।

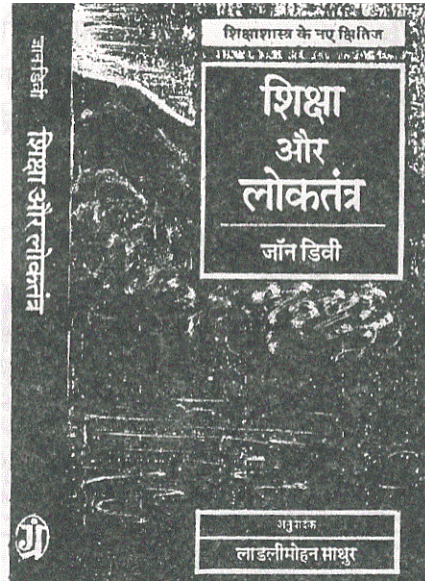
अमरीकी चिन्तक जॉन डिवी (1859-1952) की छाप शिक्षा के दर्शन में गहरी और व्यापक है । शिक्षा शास्त्र के प्रत्येक पहलू पर विचार करते समय डिवी की प्रस्थापनाओं को नजरन्दाज करना नामुमकिन है । यही कारण है कि विश्व के प्रायः सभी देशों में शिक्षक-प्रशिक्षण के पाठ्यक्रम में उनके विचारों का समावेश अनिवार्यतः मिलता है । लेकिन उनके चिन्तन की त्रासदी यह रही है कि उनका पाठ्य पुस्तकों में जितना नामोल्लेख हुआ है अथवा यथास्थितिवादियों ने जितना उनका इस्तेमाल किया है उतना उन्हें गंभीरता से पढ़ा व समझा नहीं गया ।

बालकेन्द्रित शिक्षण पर जिस कदर जोर 1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति ने दिया है और उसके बाद के सालों में सरकारी शिक्षाविदों ने इसके राग को अलापा है उनमें से कम ही लोग जानते हैं कि इस विचार को व्यापक सामाजिक सन्दर्भ में रखने की सबसे पहली सार्थक कोशिश डिवी ने ही की थी ।

डिवी के दर्शन का एक प्रमुख बिन्दु है-सत्य को स्थायी या शाश्वत न मानते हुए गतिशील मानना । वे मानते हैं कि सत्य समय की उन चुनौतियों के साथ बदलता रहता है जिनका सामना करने के लिये मनुष्य निरन्तर परिश्रमपूर्वक प्रयोग करता रहता है। वे प्रचलित अवधारणाओं और स्थापित तथ्यों को गहराई से विश्लेषित करने और उनमें आरपार देखने की मनोवृत्ति को उकसाते हैं क्योंकि उनके मतानुसार ऐसा करने से ही वास्तविकता को जांचा-परखा जा

सकता है। इस भौतिक संसार या समाज को समझने के लिये पूर्वनिर्मित या परम्परागत उपकरणों का सहारा नहीं लिया जा सकता बल्कि तात्कालिक अनुभवों से पैदा हुए औजार ही इस काम को पूरा करने में कारगर होते हैं । अनुभव की भट्टी से गुजरे बिना कोई वैचारिक औजार कुछ सार्थक उपलब्धि दे सकता है, इसे डिवी नहीं मानते।

शिक्षा के क्षेत्र में पुस्तकों द्वारा प्रतिपादित या शिक्षकों द्वारा सुझाये गये औजार बच्चों के लिए सदैव उपयोगी सिद्ध होते हों ऐसा संभव नहीं है । डिवी कहते हैं अधिकतर बच्चों के लिए उनके (स्वयं के) द्वारा आविष्कृत औजार ही काम आते हैं । इसके लिये शिक्षक द्वारा रेडीमेड फार्मूले सुझाने की बजाय ऐसी परिस्थितियां पैदा करने की कोशिश की जानी चाहिये जिनमें बालक अपने लिये उपकरण स्वयं बनायें और प्रयोगों द्वारा उनको कारगर होने न होने की जांच पड़ताल भी कर सकें । पाठ्यक्रम निर्माताओं को यह उद्देश्य सामने रखना चाहिये कि बच्चों के सामने स्कूल में या स्कूल के बाहर ऐसी वैचारिक व भौतिक स्थितियां उत्पन्न हों जिनका समाधान मानसिक कौशलों द्वारा ही संभव हो ।



शिक्षा और लोकतंत्र - जॉन डिवी

अनुवाद - लाडली मोहन निगम

ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली - 110 002

मूल्य 30 रुपये ।

इसी प्रकार डिवी लोकतंत्र को मात्र एक यांत्रिक शासन प्रणाली नहीं मानते बल्कि इसे सहकारी जीवन जीने का प्रयोग मानते हैं । इसमें हर व्यक्ति को आगे बढ़ने के अवसर मिलते हैं । इसलिये उनके

सामने प्रयोग की परिस्थितियां आती रहती हैं। डिग्री स्वशिक्षण पर बल देते हुए शिक्षक व स्कूल को इस कार्य में बालक का सहयोगी बनने की भूमिका देते हैं।

शिक्षा की आवश्यकता समाज के प्रत्येक सदस्य के जन्म और मृत्यु की अनिवार्यता के कारण होती है। एक ओर तो वे नवजात सदस्य होते हैं जो अपरिपक्व होते हैं, दूसरी ओर उनके मुकाबले वयस्क परिपक्व सदस्य होते हैं। इन पर यह दायित्व रहता है कि ये सामाजिक के सरोकारों, प्रयोजनों, जानकारियों, कौशल्यों और रीति रिवाजों को नवजात सदस्यों तक पहुंचाएँ।

समाज में निरन्तर अस्तित्व को बनाये रखने के लिए शिक्षण और ज्ञानार्जन की आवश्यकता होती है। स्कूल शिक्षण सम्प्रेषण के अनेक साधनों में से एक महत्वपूर्ण साधन है। व्यक्ति समुदाय में रहते हैं क्योंकि उनके बीच कुछ बातें सामान्य होती हैं और सम्प्रेषण ऐसा रास्ता है जो उन बातों के आदान-प्रदान का माध्यम बनता है। ये बातें होती हैं - लक्ष्य, आस्थाएं, आकांक्षाएं, ज्ञान और आम समझ। सामाजिक जीवन न केवल संप्रेषण से अभिन्न होता है बल्कि सभी प्रकार का सम्प्रेषण शिक्षाप्रद होता है। इससे अनुभव की वृद्धि होती है व मानसिकता में परिवर्तन होता है। इसी प्रकार जिस सामाजिक विन्यास में सजीव रूप में सामाजिकता या भागीदारी होती है वह समाज उन लोगों के लिये शिक्षाप्रद होता है जो उसमें शामिल होते हैं। उसकी शिक्षण की शक्ति तभी नष्ट होती है जब वह स्वयं को बन्द कर लेता है या जड़ बना लेता है। निष्कर्ष यह है कि न केवल सामाजिक जीवन को अपने स्थायित्व के लिये शिक्षण और ज्ञानार्जन की आवश्यकता होती है बल्कि साथ रहने की प्रक्रिया (साहचर्य) अपने आप में शिक्षाप्रद होती है। उससे अनुभव विस्तृत व कल्पना उत्प्रेरित व प्रगाढ़ होती है। इसके साथ कथ्य और विचार की सत्यता और विशदता के बारे में जिम्मेदारी की भावना आती है। इस सामाजिक साहचर्य से मिलने वाली सहज शिक्षा उस शिक्षा से भिन्न होती है जो सोद्देश्य दी जाती है।

अपने अस्तित्व को कायम रखने का प्रयत्न करना जीवन का स्वभाव होता है। इसके लिए निरन्तर नवीकरण की प्रक्रिया अनिवार्य होती है। इसका प्रकार यह माना जा सकता है कि एक आत्मनवीकरण की सतत प्रक्रिया का नाम है शिक्षा। सामाजिक जीवन के लिये शिक्षा का वही महत्व है जो व्यक्ति के भौतिक जीवन के लिए पोषण और प्रजनन का है।

मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि स्कूलों की स्थापना तब होती है जब सामाजिक परम्पराएं इतनी जटिल हो जाती हैं कि सामाजिक सामग्री का एक बहुत बड़ा भाग लिखित रूप ले लेता है और उसका लिखित पुस्तकों के जरिये ही संप्रेषण होने लगता

है। लेकिन यह भी ध्यातव्य है कि लिखित प्रतीक मौखिक प्रतीकों की अपेक्षा अधिक कृत्रिम व रूढ़ होते हैं। उन्हें दूसरों के साथ आकस्मिक व्यवहार में नहीं सीखा जा सकता।

समाज के जिस अंग को हम स्कूल कहते हैं उसका पहला काम एक सरलीकृत पर्यावरण उपलब्ध करवाना होता है। उसमें ऐसे विशेष तत्व चुनकर रखे जाते हैं जो बहुत कुछ बुनियादी होते हैं तथा जो बच्चों की अनुक्रिया को प्रेरित करने में समर्थ होते हैं। इसके साथ ही स्कूल द्वारा प्रगति का एक ऐसा क्रम स्थापित किया जाता है जो शुरू में अर्जित किये गये ज्ञान का प्रयोग उन बातों को समझने के लिए करता है जो अपेक्षाकृत अधिक जटिल होता है।

दूसरे, स्कूल के पर्यावरण का यह काम भी होता है कि वह जहां तक संभव हो मौजूदा पर्यावरण से उन तत्वों को निकाल दे जो दूषित हो गये हों ताकि वे व्यक्ति के मानसिक गठन को प्रभावित न करें।

तीसरे, स्कूल के पर्यावरण का यह काम भी है कि वह सामाजिक पर्यावरण के विभिन्न तत्वों में सन्तुलन कायम करे और यह सुनिश्चित करे कि प्रत्येक व्यक्ति को उस सामाजिक समूह के दायरे से निकल कर व्यापक पर्यावरण के सम्पर्क में आने का अवसर मिले।

स्कूल का एक कार्य यह भी होता है कि वह प्रत्येक व्यक्ति के स्वभाव में उन विभिन्न सामाजिक पर्यावरणों के विविध प्रभावों को समन्वित करे जिन पर्यावरणों में वह व्यक्ति प्रवेश करता है।

जहां तक शिक्षा के लक्ष्यों का सवाल है तो सबसे पहले यह देखना होगा कि जो काम शिक्षा को सौंपा गया है उसमें आन्तरिक निरन्तरता है या नहीं। कहीं वह क्रियाओं का समुच्चय मात्र तो नहीं है। लक्ष्य का अर्थ होता है - अन्त की अथवा संभावित समाप्ति की अग्रिम पूर्व दृष्टि। जब विद्यार्थी की लगभग प्रत्येक क्रिया शिक्षक द्वारा आदेशित व अनुशासित होती है, जब उसकी क्रियाओं में केवल उसे पढ़ाये गये पाठों और किसी दूसरे द्वारा दिये गये निर्देशों का ही क्रम होता है। तब किसी शैक्षिक लक्ष्य की बात करना ही बेमानी होता है। जब ऐसी स्थितियां होती हैं जिनमें परिणामों की पूर्व दृष्टि नहीं हो सकती और कोई व्यक्ति यह पूर्व कल्पना करने के लिये प्रेरित नहीं होता कि किसी क्रिया का क्या परिणाम होता है तब शिक्षा अथवा किसी अन्य उपक्रम के लक्ष्य की बात करना निरर्थक होता है।

यह पूर्व दृष्टि तीन प्रकार से काम करती है - (1) यह पता लगाती है कि अन्त तक पहुंचने के लिए क्या साधन उपलब्ध हैं और मार्ग में क्या बाधाएँ हैं। (2) इन साधनों का किस क्रम में उपयोग लाभदायक सिद्ध हो सकता है। (3) इससे विकल्पों के

चयन में क्या सुविधा हो सकती है। असल में लक्ष्य को सामने रख कर काम करना बुद्धिमता से काम करने के बराबर होता है। किन्तु समस्या यह है कि यह लक्ष्य कौन निर्धारित करे। यदि एक शिक्षक बच्चों की संवृद्धि के समुचित प्रयोजन के रूप में अपने ही लक्ष्य निर्धारित करे तो उसका ऐसा करना उतना ही बेतुका होगा जितना एक किसान द्वारा स्थितियों को नजरन्दाज करते हुए कृषि का एक आदर्श निर्धारित का लेना। लक्ष्यों का अर्थ होता है किसी कार्य को जारी रखने के लिये, चाहे वह शिक्षा का हो या कृषि का, आवश्यक प्रेक्षाओं, पूर्वापेक्षाओं और प्रबंधों का दायित्व स्वीकार कर लेना।

इस सन्दर्भ में हमें यह बात ध्यान रखनी होगी कि शिक्षा जैसे अमूर्त विचार का अपने आप में कोई लक्ष्य नहीं होता। माता पिता शिक्षक समाज व सरकार शिक्षा के लिए जो लक्ष्य सुनिश्चित करते हैं उन्हीं की प्राप्ति के लिए शिक्षा को प्रयत्न करना होता है।

इस सदी के आरंभ से ही शिक्षा के लक्ष्यों का निर्धारण करने में माता-पिता शिक्षक और समाज की प्रत्यक्ष भूमिका कम होती गई है और सरकारों ने इन्हें बनाने और लागू करने का दायित्व अपने हाथों में ले लिया है। यह सच है कि इस दायित्व का निर्वाह करने से पूर्व इन घटकों की आशाओं-आकांक्षाओं को भी ध्यान में रखने की कोशिश की जाती है लेकिन निर्णायक मत सरकारों के पास ही रहता है। लक्ष्यों को बाहर से या ऊपर से थोपने की कुप्रथा की जड़ें अब काफी गहरी हो चली हैं। शिक्षकों को ये लक्ष्य उच्च

अधिकारियों से मिलते हैं। जो कुछ समाज में प्रचलित होता है उसी में से अधिकारी उन्हें ग्रहण कर लेते हैं। शिक्षक मजबूरन उन्हें शिक्षार्थियों पर आरोपित करते हैं। इसका एक कुपरिणाम यह होता है कि शिक्षक की बुद्धि स्वतंत्र नहीं रह पाती। उसका उपयोग ऊपर से दी गई रेडीमेड विचार सामग्री को छात्रों को संप्रेषित करने में सीमित हो जाता है। वह अपनी ओर से विषय वस्तु में न कुछ जमा कर पाता है और न कुछ कम कर पाता है। शिक्षक के अनुभव के प्रति यही अविश्वास छात्रों की अनुक्रियाओं में भी परिलक्षित होने लगता है जिससे उनमें आत्म विश्वास की भावना धीरे धीरे क्षीण होती चली जाती है और इस प्रकार सीखने-सिखाने की एक जीवन्त प्रक्रिया यांत्रिक औपचारिकता की गतिविधि में बदल कर रह जाती है।

जॉन डिवी वर्तमान शिक्षा प्रणाली की उन विसंगतियों को बड़ी निर्ममता के साथ उद्घाटित करते हैं जिनमें एक ओर तो बालकेन्द्रित शिक्षण की वकालत की जाती है और दूसरी ओर शिक्षक की शिक्षण विधि की मौलिकता पर कड़े प्रतिबंध लगाने की कवायद की जाती है। उनका मानना है कि शिक्षक को यह स्वतंत्रता तो मिलनी ही चाहिये कि बच्चों को क्या पढ़ाया जाए और कैसे पढ़ाया जाये, इसको निर्धारित करने में भी वे अपना मत निर्भीकतापूर्वक रख सकें। इस प्रकार यह पुस्तक डिवी के विचारों को हिन्दी के प्रबुद्ध पाठकों तक पहुंचाने का पहला होते हुए भी एक श्लाघनीय प्रयास है। यद्यपि अनुवाद अभी भी यत्र तत्र मूल के अनुरूप नहीं हो पाया है। ♦

जॉन डिवी का जन्म अमरीका में उन्नीसवीं सदी के मध्य में हुआ था। उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशकों में वे अपने देश के शिक्षादार्शनिकों की अगली कतार में स्थापित हो चुके थे। उनका लगभग सारा शिक्षक जीवन कोलंबिया विश्वविद्यालय में बीता जहां के टीचर्स कालेज से वे जीवनपर्यंत जुड़े रहे। वे प्रथम श्रेणी के एकमात्र ऐसे दार्शनिक थे जिनका शिक्षा से सीधा सरोकार था। शैक्षिक चिंतन को प्रभावित करने वाले विचारकों में वे सबसे महान हैं। आज के चिंतन पर उनका सबसे अधिक प्रभाव है।

जॉन डिवी लोकतंत्र को नैतिक और शुभ जीवन प्रणाली मानते थे। उनके लिए यह व्यवस्था जीवन यापन का ऐसा तरीका था जिसमें हर व्यक्ति अपनी क्षमता का व्यवहार सामाजिक दृष्टि से फलप्रद रूप में करता है उनकी लोकतंत्र की उदार धारणा के समक्ष आज का पतनशील पूंजीवादी दौरवाला अमरीकी लोकतंत्र हास्यास्पद दिखता है।

लेखक का मानना है कि प्रत्येक समाजव्यवस्था में शिक्षा उस समाज के उद्देश्यों, आदर्शों, इच्छाओं, और आकांक्षाओं से जुड़ी होती है। सामाजिक बदलावों के साथ समाज की जरूरतों में भी परिवर्तन होता है, उसके आदर्शों और उद्देश्यों में भी बदलाव आता है लेकिन प्रत्येक समाज में उसके पूर्ववर्ती समाज की बहुत सी बातें प्रचलित रहती हैं। और यही बात शिक्षा पर भी लागू होती है। यह अतीत और वर्तमान दोनों को अपने भीतर समेटे रहती है।

इस पुस्तक में लोकतांत्रिक समाज की जरूरतों के मुताबिक शिक्षा के आदर्शों तथा जरूरतों की डिवी ने पड़ताल की है और लोक शिक्षा के रचनात्मक उद्देश्यों पर विचार करने के क्रम में उसके स्वरूप का भी विवेचन किया गया है।

डिवी ने दिखाया है कि जैसे जैसे लोकतंत्र में नए प्रयोग किए गए उसी प्रकार से ज्ञानविज्ञान और दर्शन चिंतन में भी नए प्रयोग किए गए। यहां इस बात को स्पष्ट किया गया है कि इन नए प्रयोगों को एक लोकतांत्रिक समाज की शिक्षापद्धति में किस प्रकार लिया जाना चाहिए। पुस्तक में लेखक के विवेचन का यह केंद्रीय विषय है। चूंकि डिवी के जमाने में दुनिया बहुत तेजी से बदल रही थी, अतः उनके सामने यह समस्या थी कि इन बदलावों को एक लोकतांत्रिक समाज की शिक्षा व्यवस्था में किस प्रकार समेटा जाए।

अब तक डिवी की इस पुस्तक के विश्व की अनेक भाषाओं में अनुवाद हो चुके हैं। उनकी यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण पुस्तक हिंदीभाषी पाठकों को पहली बार उनकी अपनी भाषा में पढ़ने को मिलेगी। (पुस्तक परिचय से)